पंचायती राज : फिर बैतलवा डार पर

डा. नरेश भार्गव

चार दशकों के बाद इस दशक के प्रारंभिक कुछ वर्षों में पंचायती राज के प्रति रुचि फिर से जागी है। ऐसा किसलिये हुआ—इसके कुछ अपने कारण हो सकते हैं। पिछले कुछ समय से इस देश में शक्ति के केन्द्रीयकरण अथवा विकेन्द्रीकरण के संबंध में विवाद होते रहे हैं। स्वाधीनता आन्दोलन के समय जो भी सपने देखे गये थे—ग्राम स्वायत्तता अथवा प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीयकरण उसका एक महत्वपूर्ण हिस्सा था। गाँधी जी का ग्राम स्वराज अथवा स्वदेशी चिन्तन इस दृष्टि के पोषक थे। समाजवादी नेता डा. राम मनोहर लोहिया और जय प्रकाश नारायण ने अपने-अपने तरीके से चौखम्भा राज्य और ग्राम सर्वोदय की कल्पना की थी। इस विचार की संवैधानिक मर्यादा भी इसी कारण स्थापित हुई। 1952 में बलवंत राय मेहता समिति के सुझावों पर, सामंतवादी परिवेश के समाज में पंचायती राज का प्रवेश उस समय नए परिवर्तन का सूचक कहा गया था।

विकेंद्रीयकरण

इस बीच विकेन्द्रीयकरण की भावना के विपरीत एक बात उछाली जाती रही है। केन्द्र अधिक मजबूत होना चाहिए और संसदीय प्रणाली के स्थान पर राष्ट्रपति शासन-प्रणाली स्थापित होनी चाहिए। यह कहा गया कि इस देश की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक मजबूत केन्द्र की मजबूती पर ही निर्भर है। यदि केन्द्र कमजोर होगा तो यह देश भी बिखर जाएगा। भारत जैसे विविध और बहुलता के देश में अब तक जो इतिहास चला

है, वह पारस्परिक समझ और विश्वास से ही चला है। पंचायती राज प्रजातांत्रिक और प्रशासनिक विकेंद्रीयकरण ही नहीं, इस पारस्परिक समझ और विश्वास को संस्थागत आधार पर बनाए रखने का प्रयास भी कहा जाना चाहिए। वर्तमान परिवेश में जो कुछ भी पंचायती राज का स्वरूप है और जो कुछ भी इस राज के पीछे विश्वास है-उसे ऐतिहासिक ग्राम पंचायतों अथवा जाति पंचायतों से तुलना कर पाना कठिन है। विगत इतिहास की ग्राम पंचायतें कतिपय उन सामाजिक संदर्भों के साथ जुड़ी हुई थीं। सामंतवादी व्यवस्था में इनका आधार सामंतों के साथ समन्वय का भी था तो कुछ अर्थों में सामंतवादी कुशासन के विरुद्ध मोर्चे का भी। जाति पंचायतों का आधार जाति मजबूती और जाति संगठनों के समन्वयन का भी था। वैसे भी इतिहास को वापस लाना अत्यन्त कठिन कार्य है। विश्वव्यापी बदलते सामाजिक परिवेश, देश में सामंतवादी और औपनिवेशिकवादी इतिहास और प्रजातांत्रिक व्यवस्था की अपनी आवश्यकताएं, सभी कुछ पंचायती राज व्यवस्था को अपना ही रूप बनाने के लिए लगभग बाध्य ही करते हैं। ऐसा हुआ भी है।

जो लोग इस बात में विश्वास करते हैं कि इस देश के लिए केन्द्रीय व्यवस्था ही चाहिए, यह भी मानते हैं कि विकेन्द्रीयकरण के अंतर्गत आने वाली इकाईयां प्रजातंत्र के लिए परिपक्व नहीं हैं और पंचायतों को अधिक अधिकार, इस देश में गड़बड़ी फैला देंगे। चाहे जो हो-पंचायती राज के प्रति संवैधानिक प्रतिबद्धता ने टूटा-फूटा अधिकार के नाम पर बिना अधिकार वाला पंचायती राज स्थापित तो कर दिया है। संवैधानिक संशोधन ने तथाकथित पंचायती राज की खामियों को निकाल फेंका है और पंचायती राज का एक नया ढांचा सामने आ गया है।

पर क्या यह पंचायती राज भी आवश्यकताओं का सही हल है ? यदि कानून के दाव पेचों में न जाया जाय और इन पंचायतों के स्वरूपों का विश्लेषण करना प्रारंभ किया जाए तो बहुत से प्रश्न उठ खड़े होते हैं। वांछनाओं और यथार्थताओं के बीच एक स्पष्ट दरार साफ सामने नजर आती है।

पंचायती राज के कानूनों ने कुछ नए प्रावधान किए हैं जैसे अब पंचायतों के चुनाव संवैधानिक आवश्यकता है। चुनाव कराने की जिम्मेदारी अब चुनाव आयोग की है। अनुसूचित जाति एवं जनजातियों की तरह पिछड़े वर्ग की हैसियत से स्त्रियों के स्थान भी सुरक्षित कर दिये गये हैं। पंचायतों को चलाने की एक जटिल व्यवस्था भी बनाकर तैयार की गई है। इस जटिल व्यवस्था में वृहद नौकरशाही संरचना शामिल है।

उद्देश्य

पंचायती राज व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य स्थानीय प्रजातंत्र के आधार पर अपनी व्यवस्था स्थापित कर विकास के नए आधारों की स्थापना करना था। पंचायत अपनी आवश्यकताओं के अनुसार खुद धन जुटाएं और आवश्यकता के विकास कार्यक्रमों को हाथ में लें। अभी तक जो कुछ भी हुआ है, उसमें दोनों की कड़ियां कमजोर हैं। स्वयं का वित्त ये पंचायत जुटा नहीं सकतीं। यदि जुटाने की व्यवस्था है तो वह भी कमजोर। राज्य सहायता का अंश अथवा व्यापक करों के हिस्से का बंटवारा जिला स्तर पर ही निबट जाता है। पंचायतें पूरी की पूरी फिर से निर्धन इकाई रह जाती है। यह भी सच है कि इस धन का भी अधिकांश हिस्सा नौकरशाही पर खर्च हो जाता है। पंचायती राज के संगठनों को हम दफ्तरों का संगठन बनाने पर लगे हैं। दफ्तरों की इस बाढ़ में काम करने का तरीका दफ्तरी है, सोचने का तरीका दफ्तरी है और प्रणाली दफ्तरी है। विकास की भूमिका में दफ्तरी रोक के प्रश्न पहले ही उठते रहे हैं-फिर पंचायत की उपलब्धि कैसे प्राप्त होगी। वस्तुतः स्थानीय स्तर पर जितना दफ्तरी काम कम होगा, उतनी ही लाभप्रद स्थितियां बनेंगी। यह प्रश्न प्रशासन संबंधी विद्वानों के सोचने का भी है कि कैसे पंचायती राज में नौकरशाही और दफ्तरी कामों से मुक्ति मिल सकती है और निर्णय की कोई सहज प्रक्रिया स्थापित की जा सकती है। नेतृत्व में प्रशासन की वर्तमान प्रणाली के अनुभव के अभाव में सारी पंचायत राज व्यवस्था के कार्यकलापों का सरकारी प्रतिनिधियों के हाथों सिमट जाने का खतरा है।

वित्त व्यवस्था

पंचायतों के वित्त संचालन का प्रश्न महत्वपूर्ण प्रश्न है।

वर्तमान में पंचायतों की आमदनी के दो स्रोत हैं—राज्य स्तरीय करों में भागीदारी और राज्य स्तरीय करों पर स्थानीय शुल्क। इनके वितरण में भी असमानताएं हैं। बहुत-सी ऐसी चीजें हैं जिनका सारा क्षेत्र स्थानीय है पर कर का लाभ सरकार को और उत्पादन का लाभ--क्षेत्र से बाहर के लोगों के पास चला जाता है। जंगल और खनिज की सम्पदा इस उपलब्धि के सबसे बड़े उदाहरण हैं। इन दोनों ही सम्पदाओं से लाभ बहुत अधिक होता है, पर ग्राम पंचायतों को इसमें से कुछ भी हिस्सा नहीं मिलता। यदि ग्राम पंचायत की परिधि में स्थित जंगलों के लाभ का पांच प्रतिशत और खनिज लाभ का दस प्रतिशत ग्राम पंचायतों को सौंप दिया जाय तो ऐसी पंचायतों को सरकारी अनुदानों की बहुत बड़ी आवश्यकता नहीं होगी। जिन पंचायतों के पास यह सम्पदा नहीं है उनको सरकारी अनुदान में वृद्धि कर सहायता की जा सकती है। यहां मुद्दा यही है कि क्षेत्र की सम्पदा का लाभ यदि बाहर वाले उठाते हैं तो उस सम्पदा की लाभ प्राप्ति का कुछ हिस्सा पंचायतों को मिलना चाहिए। इस बंटवारे से आर्थिक पक्ष की कमी शायद पूरी की जा सके। पंचायतों द्वारा स्वयं अपने करों से धन जुटाने की अपनी सीमाएं हैं।

कार्य

एक अत्यन्त महत्वपूर्ण दृष्टिकोण पंचायतों के कार्य भी हैं। पंचायतों की स्थापना सरकारी कामों और योजनाओं को गांव तक ढोना है अथवा अपनी आवश्यकता के हिसाब से विकास कार्यक्रम चलाने हैं ? पंचायतों की ग्रामीण सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में क्या भूमिका हो सकती है। 1958 में जब पंचायती राज स्थापित किया गया था तब कहा गया था पंचायतें कृषि उत्पादन को बढ़ाने में प्रोत्साहन देंगी, गांव की दस्तकारी को बढ़ावा देंगी, सहकारी आन्दोलन की पुष्टि करेंगी, स्थानीय उपलब्ध मानवीय स्त्रोतों का पूर्ण उपयोग कर आर्थिक सामाजिक आधार स्थापित करेंगी, कमजोर वर्गों को आर्थिक सुरक्षा देंगी और आत्मनिर्भरता के विश्वास को उत्पन्न करेंगी। यह बात दूसरी है कि जिन लोगों ने ये लक्ष्य दिये उन्होंने इस संबंध में कोई ठोस कार्यक्रम नहीं दिये जो स्थानीय आवश्यकता के अनुरुप होते। अपेक्षित कार्यक्रमों के परिप्रेक्ष्य में आज भी वही स्थिति है। ऊपर से तय किये गये कार्यक्रमों के वाहक अब पंचायती राज है। प्रौढ़ शिक्षा की प्रणाली ऊपर तय होती है और वाहक पंचायतें हैं। कोई कार्यक्रम कैसे चलाया जाय इसका तय सरकारी कमेटियां, राजनेता अथवा सरकारी अधिकारी तय करते हैं। ऐसी स्थिति में पंचायतों की निर्णय की आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास दोनों ही कहीं नजर नहीं आते उलटे पंचायत के प्रतिनिधि सरकारी प्रतिनिधियों दोनों के बीच तनाव उत्पन्न हो गये हैं। दोनों ही ग्राम विकास के मामले में अनाड़ी और नासमझ समझते हैं।

पंचायत प्रतिनिधि और सरकारी प्रतिनिधियों के बीच एक और कड़ी राजनीतिक नेताओं की और भी जुड़ी है। यह बहुत पहले से विवाद है कि पंचायती राज के संचालन में राजनीतिक दलों का हस्तक्षेप होना चाहिए या नहीं। जय प्रकाश नारायण ने राजनीतिक दलों को तनाव और संघर्ष का प्रतीक माना था। इसीलिये उन्होंने ग्राम स्तर पर राजनीतिक दल विहीन व्यवस्था की बात की थी। अब राजनीतिक दलों को ग्राम स्तर तक पहुंचने का मौका दे दिया गया है। पंचायतों के नियंत्रण का अब एक बड़ा हिस्सा नौकरशाहों-राजनीतिज्ञों गठजोड़ का होने लगा है। यह बात सच है कि राजनीतिक दलों के प्रवेश ने अनुसूचित जातियों, जनजातियों और महिलाओं के पंचायती राज प्रवेश में सहायता दी है। अपने वर्चस्व को स्थापित करने के लिये राजनीतिक दलों को इस वर्ग के उम्मीदवारों को ढूढ़ना पड़ा है और दलों के अपने प्रयत्नों से इन वर्गों का कुछ नेतृत्व उभरा है—चाहे इस नेतृत्व की दलों में श्रद्धा हो या न हो। पर दलों की इसी प्रक्रिया ने ग्राम स्तर पर दलीय प्रतिद्वन्द्विता और दलीय ईर्ष्या को भी जन्म दिया है। इसी प्रतिद्वन्द्विता और ईर्ष्या ने विकास की प्राथमिकताओं का विभाजन भी कर दिया है। ऐसे उदाहरण मिलने लगे हैं जहां ग्रामपंचायतों के प्रति दलीय भेदभाव बढ़े हैं। यह भी बात सामने आई है कि पंचायत नेतृत्व उच्च स्तरीय दलीय नेतृत्व की इच्छाओं को नकार नहीं पाया है। भ्रष्ट आचरण का प्रारंभ भी हुआ है, विशेष रूप से भूमि बेचने और भूमि के वितरण के संदर्भ में। विकास और संरचना की राजनीति तथा

दलीय राजनीति में अंतर है। पंचायत चुनाव जीतना राजनीतिक दल की प्रतिष्ठा एवं शक्ति का प्रदर्शन है। पंचायती राज का आधार जनशक्ति स्वीकार किया गया था—दलीय शक्ति नहीं। सिद्धान्त रूप में यह सुनने में अच्छा लगता है कि दल शक्ति जनशक्ति भी है, पर दोनों एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं—ऐसा व्यावहारिक रूप में नहीं कहा जा सकता।

नेतृत्व के प्रश्न

पंचायती राज की इच्छाओं को एक बड़ी चुनौती स्वयं नेतृत्व की क्षमता की है। नेतृत्व के संबंध में दो प्रकार की बातें कही जाती रही हैं। पहली बात यह नेतृत्व ग्रामीण क्षेत्रों की सामाजिक संरचना का प्रतिनिधित्व नहीं करता। ग्रामीण सत्ता पर नियंत्रण पारंपरिक सामाजिक सत्ताधारियों का ही है। पंचायतों के प्रारंभिक सत्ता की सामाजिक संरचना भी कुछ ऐसी ही थी। ऊँची जाति, बड़े जोत के किसान और जमींदार तथा कुछ सीमा तक शहरी मध्यम वर्ग जो कुछ सीमा तक ग्रामीण सामाजिक संरचना से भी जुड़ा हुआ था इस नेतृत्व की विशेषता थी। राजस्थान जैसे सामंती परिवेश में यह बात और भी जुड़ी। कुछ राज्य इसका अपवाद भी रहे। पश्चिम बंगाल में क्योंकि सरकार ने भूमि सुधार कार्यक्रम को भी पंचायती राज कार्यक्रम के साथ जोड़ा भूमिहीन मजदूर भी वहां पंचायती राज का हिस्सा बने। पर और प्रान्तों में ऐसा हुआ। पर स्थिति अब बदली है। चाहे पिछड़े और अगाड़ी जातियों की प्रतिद्वन्द्विता कहें या ग्रामीण मध्यम वर्ग की महत्वाकांक्षी इच्छाएं, एक अलग सा नव-नेतृत्व उभरने लगा है। मध्यम कृषक जातियां जैसे गूजर, यादव, काछी नेतृत्व की दौड़ में आने लगी हैं। इसका यह भी अभिप्राय नहीं है कि इन जातियों और वर्गों का कोई ऐसा मोर्चा उभरने लगा है जो पारंपरिक स्थापित नेतृत्व को बदल देगा। स्थापित नेतृत्व की जकड़ ढीली अवश्य हुई है पर टूटी नहीं है।

नेतृत्व से संबंधित दूसरा प्रश्न उनकी क्षमता का है। पंचायती राज के नेतृत्व के संबंध में अपेक्षाएं व्यक्त की गई थीं कि नेतृत्व प्रेरक होगा, व्यवस्था का नियंत्रक होगा, विकास के लिये वह स्थानीय मानव शक्ति को संगठित करने में सक्षम होगा और सामाजिक परिवर्तन के वाहक के रूप में वह कार्य करेगा। अशिक्षा, अनुभव और वांछित उद्देश्यों की संगठन क्षमता के अभाव ने इस प्रकार की अपेक्षाओं पर प्रश्न लगा दिये हैं। निहित स्वार्थों के और नेतृत्व की अपनी जानकारियों की सीमा के रहते इस क्षमता का पूरा होना भी संभव नहीं। महिलाएं अभी अपने ही अधिकारों के प्रश्नों से जूझ रही हैं फिर अन्य व्यापक प्रश्नों से उनका जूझना किस तरह होगा—इस संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। प्रश्न यह भी है कि क्या महिलाएं अपने पारिवारिक परिवेश के दबावों से मुक्त हैं? अनुसूचित जाति एवं जनजाति वैसे ही सामाजिक राजनीति सीमांत का प्रतिनिधित्व करते हैं। विस्तृत राजनीतिक सन्दर्भों की निर्णय प्रक्रिया में उनका कोई विशिष्ट स्थान भी नहीं। फिर कैसे ये जिला अथवा क्षेत्र के चुस्त चालाक नेतृत्व का मुकाबला कर पाएंगे और अपनी विशिष्ट सामाजिक स्थिति के कारण सारे ग्राम को इकट्ठा कर पाएंगे? कुछ अपवाद हो सकते हैं पर ऐसा कर पाने की उनकी क्षमता पर एक प्रश्न चिन्ह अवश्य है।

ऐसे नेतृत्व को लाने के लिये हमने शिक्षित होने की शर्त हटाई है, हमने परिवार नियोजन की सीमा समाप्त की है और पंचायती राज की संगठनीय आवश्यकताओं को भी शिथिल किया है। संगठन व्यवस्था के प्रशिक्षण के अभाव में स्वयं नेतृत्व अपने आप को सक्षम अनुभव नहीं करता। एक गैर राजनीतिक पंचायत प्रशिक्षण संभवतः इस कमी को दूर कर सके।

पिछड़े वर्ग

देश के दबे, कुचले और शोषित वर्ग के लिये क्या पंचायती राज का कोई अर्थ है? बाल विवाह को रोकने की इच्छुक भंवरी देवी के साथ पंचायत के व्यवहार ने और राजस्थान में ही पंचायत अधिकारी द्वारा औरत को डाकण कहकर सूली पर लटकाना इस व्यवहार के अलग पहलू हैं। 1995 में मध्यप्रदेश के राजगढ़ जिले में एक महिला सरपंच द्रोपदी बाई को विकास खंड अधिकारी के सामने नंगा कर दिया गया था। यह जनश्रुति है कि महिला पंच सरपंचों को एक अंगरक्षक की आवश्यकता भी होती है। अनुसूचित जाति के लोग जहां गोलबंद हो सके हैं, वहां हुए हैं

पर जहां नहीं हैं वहां वे सम्मान के अधिकारी नहीं हैं। 'रागदरबारी' के सनीचर की स्थिति से वे उबर नहीं पाए हैं। क्या पंचायती राज इस सामाजिक यथा-स्थितिवाद को पलट पाएगा ? पद देना एक बात होती है—सामाजिक गतिशीलता प्रदान करना दूसरी। पिछड़े हुए क्षेत्रों में यह समस्या और भी विकट है। अगर चुने हुए प्रतिनिधियों के साथ यही बर्ताव है-तो पंचायतीराज का पिछड़ों के साथ संबंध भी टूटता नजर आता है। पंचायती राज व्यवस्था में पिछड़ों को दान-सहायता की व्यवस्था तो है—पर उनकी सामाजिक गतिशीलता की नहीं।

व्यापक क्रांति

किसी भी व्यवस्था के लिये सकारात्मक और नकारात्मक दोनों दृष्टिकोण हो सकते हैं। पर यह बात अवश्य है कि पंचायती राज ग्रामीण संरचना में बदलाव का एक प्रतीक अवश्य बन गया है। पर बिना व्यापक सामाजिक क्रांति के पंचायती राज व्यवस्था कारगर हो सकती है ? पंचायती राज किसी व्यापक सामाजिक क्रांति का प्रतीक नहीं है। ज्यादा से ज्यादा यह ग्रामीण जीवन को दिये गए कुछ लाभ हैं। स्थानीय प्रशासन, विकेन्द्रीकरण और विकास सभी कुछ सुखद हैं, सम्मोहक हैं और किसी की भी रूचि के अनुकूल हैं। पर इन शब्दों का एक व्यवहारिक स्वरूप भी है।

ग्राम स्तर पर सत्ता की भागीदारी किसमें ? विकेन्द्रीकरण दफ्तरों का या वास्तविक प्रशासन के अधिकारों का ? विकास कैसा—कुछ सुविधाओं का या सामाजिक अंतरों को पाटने का ? ये सभी प्रश्न मामूली हैं पुराने हैं पर विश्व व्यापीकरण, देश के स्तर पर, स्वीकृत बाजारी अर्थव्यवस्था, समता के स्वीकृत आदर्श प्रारूप, संपन्नता के लिये किये जाने वाले वादे—सभी का एक परिवेश है जिसमें से पंचायतों को हम अलग नहीं कर सकते। यदि सामाजिक क्रांति का स्वरूप देश व्यापी नहीं है तो फटे टाट को मखमली पैबन्दों की क्या जरूरत है ? वैसे भी इस देश की बहुत-सी चीजें नीचे के स्तर के लिये नहीं हैं।

मीडिया के लिये ग्राम एक अजूबा है या केवल बौद्धिक बहस की औपचारिकता। योजना आयोग अथवा वित्त मंत्रालय के लिये केवल धन आबंटन की समस्या और राजनीतिक नेतृत्व के लिये एक वोट बैंक। पंचायती राज के लिये पहले ऊपर की मानसिकता बदलनी पड़ेगी। ऐसी मानसिकता जो पंचायती राज को एक राजनीतिक औपचारिकता न समझे अपितु इस देश की चाही गई सामाजिक क्रांतिकारिता का एक वाहक।